

धर्मपाल-- शोध का सारांश

धुव शुक्ल

बीसवीं सदी के ढलते वर्षों में दिल्ली के गांधी शान्ति प्रतिष्ठान में इतिहासविद् धर्मपाल से मुलाकात हुई। अनुपम मिश्र के कमरे में उन्हें पहली बार देखा, जिनने नये सिरे से अँग्रेजों से पहले के भारत का परिचय हमसे करवाया। उनके लेख सम्पादक प्रभाष जोशी ने लगातार जनसत्ता समाचार पत्र में प्रकाशित कर देश के बौद्धिक समुदाय के मन में धर्मपाल की ओर रुख करने की उत्सुकता जगायी। फिर उनकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। हम कुछ मित्र उनके निकट आते गये। वे अक्सर भोपाल भी आने लगे।

यहाँ कुछ दिन रहकर वे हमें वह आईना दिखाते रहते जिसमें भारत का खूबसूरत चेहरा कुछ और ही नजर आता, वह चेहरा भी नजर आता है जो कुछ सदियों में हमें ब्रिटेन के फिरंगियों और दूसरे बाहरी लोगों ने विकृत करके दिखा दिया है। वे हमें भारत के चेहरे पर पड़े हुए वे दाग दिखाते जो पिछले तीन सौ वर्षों में और उससे पहले भी दूर दुनिया से आये व्यापारियों और आक्रान्ताओं ने जान-बूझकर लगाये हैं और किस तरह केर-बेर के संग में फँसकर देश का समूचा शरीर और आत्मा सदियों तक आहत होते रहे हैं, वे आज भी आहत हो रहे हैं तो इसलिए कि आजादी के बाद हमारे नेताओं ने उसी संरचना को अपना लिया जो अंग्रेज व्यापारियों और ब्रिटिश हुकूमत ने हमारे जीने के ढंग को बलपूर्वक बदल डालने और अपने राज्य को भारत में मजबूत बनाये रखने के लिए गढ़ी थी।

धर्मपाल अक्सर सेवाग्राम जाकर लम्बा समय बिताते और कभी-कभी हम भी उनका सान्निध्य पाने के लिए सेवाग्राम का रुख करते -- वहाँ गाँधी परिसर के प्रार्थना प्रांगण में १९३६ में बापू ने एक पीपल रोपा था, जिसे अश्वत्थ वृक्ष भी कहते हैं। यह ऐसा वृक्ष है जो आठों प्रहर प्राण वायु रचता रहता है। सेवाग्राम में वह आज भी हरिया रहा है और उसी की बगल में बा का रोपा हुआ बकुल अपनी घनी छाँह में

सबको जगह देता है । मैंने पीपल की एक लम्बी होती शाखा को बकुल की ओर बढ़ती बापू की बाँह की तरह अनुभव किया जो कस्तूरबा को छू रही है । अश्वत्थ वृक्ष की उस शाखा को देखकर लगा कि बापू अपने घर में कितने अकेले हैं, कस्तूरबा के अलावा उनके साथ कोई नहीं । हवा में हहराता पीपल ऐसे लगता है जैसे बापू हमें आवाज दे रहे हैं और बकुल की घनी छाँह में बा बुला रही हैं ।

धर्मपाल को सुनते हुए हमेशा यह अनुभव होता रहता जैसे उनकी आवाज किसी गहरी खाई से आ रही है । वे भारत और इंग्लैण्ड के अभिलेखागारों को खंगालते हुए उस गहरी खाई में ही तो उतरते चले गये थे जो आक्रान्ताओं और लुटेरों ने कई सदियों तक भारत की आत्मा और उसकी देह के बीच खोदी थी और जिसे पूरने का काम गांधी जी के अलावा बहुत कम लोगों ने किया । गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से लौटते ही यह जान चुके थे कि हमारी जड़ों को खोद-खोदकर देखा गया है कि इनकी गहरायी में क्या छिपा हुआ है पर उन्हें ज्यों की त्यों खुली छोड़ दिया गया, उन पर मिट्टी किसी ने नहीं डाली और वे सूखती चली गयीं ।

इतिहासविद् धर्मपाल हमारे समय में एक ऐसे आधुनिक व्यास की तरह उपस्थित हुए जिनके सामने वह पवित्र वनस्थली नहीं थी जहाँ आश्रमवासी ऋषि-मुनियों ने किसी समय महाभारत का इतिहास जानने की उत्कण्ठा की थी। धर्मपाल के सामने तो इतिहास के खण्डहर और उजड़ते चले गये वन-उपवन ही थे और शायद किसी को उत्कण्ठा भी नहीं थी कि कोई पूछे, किसने क्या किया और कैसे किया ? पर धर्मपाल तो वह सब कह देने के लिए विकल थे जिसकी ओट में भारत की पतनगाथा छिपी हुई थी ।

धर्मपाल ने कोई दावा करते हुए यह कभी नहीं कहा कि जो मैं कह रहा हूँ उसके अलावा कुछ नहीं है । उन्होंने सिर्फ उन तथ्यों को उघाड़कर सामने ला दिया जिनके सहारे उन प्रश्नों का सामना किया जा सकता है जिनके उत्तर अभी तक पूरी तरह खोजे नहीं जा सके हैं । कठिन समय का सामना करते आये भारत के लोगों से धर्मपाल की माँग धीरता, शोध और सहचिन्तन की है, साथ ही उस व्यग्रता की भी है जो खोयी हुई पहचान को फिर से पाने के लिए होती है ।

धर्मपाल अनुभव करते हैं कि दूर-दुनिया से दूर रहकर उसे न पहचानने की अनिच्छा भारतीय मानस की विकृति है। उसका परिणाम यह हुआ कि जब दुर्योगवश बाहर के लोग यहाँ प्रवेश पा गये तो उन्हें हम समझ ही नहीं सके और उनसे कोई गहरा सम्वाद किये बिना उनकी मनमानी को सहने की आदत भी डाल ली। उस समय के कुछ पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी राज को किसी दैवीय इच्छा से आया हुआ मानकर भारत के लिए एक शुभ लक्षण की तरह देखने लगे। पता नहीं उन्हें यह क्यों दिखाई नहीं दे रहा था कि अंग्रेज भारत की समाज रचना, खेती, कारीगरी, देशी तकनीक और विद्या केन्द्रों को लगातार मिटाते चले जा रहे थे। आश्चर्य होता है कि उनमें यह भावना कैसे घर कर गयी कि बाहर के लोगों से ही देश का कल्याण सम्भव है। क्या उन्हें अपने देश के लोगों के पुश्तैनी ज्ञान, हुनरमंदगी और विपुल प्राकृतिक साधनों पर कोई भरोसा ही नहीं रहा, क्या वे नहीं जानते थे कि अपने देश के लोगों के आत्मबल और पुरुषार्थ के बूते ही खोयी हुई सम्पदा को फिर से पाया जा सकता है। उनका यह मत कैसे बन गया कि पश्चिम तो पूरब का ज्ञान अपनी ही भाषा में प्राप्त करे पर पूरब को पश्चिम का ज्ञान उन्हीं की भाषा में पाना होगा। लगता है ये अपने ही देश में पराये होते जाते वे लोग रहे होंगे जो यूरोपीय दृष्टि और उसकी सत्ता के सामने झुक गये जो यह मानती है कि यूरोप से दूर की दुनिया को यूरोप की छाया में रहना चाहिए।

जो लोग अपने ही देश के कौशल और प्रतिभा पर संन्देह करते हुए उसे अँधेरे का क्षेत्र मान बैठे और उन्हें लगा कि प्रकाश तो यूरोप से ही आ रहा है, उनके बीच गांधी जी अकेले थे जो यह मानते थे कि देश के लोग गुणों से भरपूर हैं, उन्हें अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए उनसे छीन लिए गये साधन फिर दे दिए जायें तो ये लोग अपने देश को रचने में समर्थ हो सकते हैं। धर्मपाल याद दिलाते हैं कि क्रियासिद्धि सत्व से होती है, उपकरण से नहीं। उन्होंने यूरोप का ही उदाहरण देते हुए समझाया कि जब वह अपने पाँवों पर खड़े होने के लिए और अपने पाँव फैलाने के लिए तत्पर हुआ होगा तो उसके लोगों में भी उनकी दृष्टि के अनुरूप यही भावना रही होगी। उस समय उनके पास विशेष साधन, उत्पादन और पूँजी भी कम थी किन्तु

उनने संकल्प और इच्छा शक्ति के साथ अपना विश्वव्यापी विस्तार किया और साधन जुटाते चले गये ।

भारत में गांधी जी ने भी लोगों के आत्मबल और फिर से खड़े होने की इच्छा को जगाया । अपनी जीवन दृष्टि और स्थानीय साधनों के अनुरूप लोगों को संगठित किया । तब कुछ साधन भी जुटने लगे, भय मिटने लगा और स्वराज्य पाने की इच्छा भी बलवती होती गयी । गांधी जी ने भारतीय और यूरोपीय सभ्यता के आधार, लक्ष्य और काम करने की शैली के अन्तर को समझकर स्वधर्म के निर्वाह और परधर्म की भयावहता की याद भी दिलायी जिसका वर्णन उनकी छोटी-सी पुस्तक -- हिन्द स्वराज्य -- में हुआ है ।

यह पुस्तक लिखने के बाद गांधी जी ने इसके पाठकों को चेतावनी देते हुए १९२१ में यंग इण्डिया में लिखा कि -- वे ऐसा न मान लें कि इस किताब में जिस स्वराज्य की तस्वीर मैंने खड़ी की है वैसा स्वराज्य कायम करने के लिए आज मेरी कोशिशें चल रही हैं । मैं जानता हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है । ऐसा कहने में शायद ढिठाई का भास हो, लेकिन मुझे तो पक्का विश्वास है कि इसमें जिस स्वराज्य की तस्वीर मैंने खींची है, वैसा स्वराज्य पाने की मेरी निजी कोशिश जरूर चल रही है । लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक पार्लियामेन्टरी किस्म का स्वराज्य पाना है ।

अपनी इस पुस्तक में इंग्लैण्ड की हालत का जिक्र करते हुए गाँधी जी ने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को बाँझ और बेसवा कहा । बाँझ इसलिए कहा कि वह बिना दबाव के कोई काम नहीं करती और बेसवा इसलिए कि जो मंत्रिमण्डल उसे रखे उसके पास वह रहती है । वह महज प्रजा का खिलौना है जो उसे भारी खर्च में डालता है । - और यही खिलौना भारत की प्रजा को थमा दिया गया जिससे वह सत्तर वर्षों से खेल रही है । गांधी जी ने कहा कि पार्लियामेन्ट तो अभी भी बच्चा है, वह बड़ी कब होगी । कहने का मन होता है कि जनता कब बड़ी होगी, क्या वह इस खिलौने से ऐसे ही बेमन से खेलती रहेगी, जैसे उसे खेलने दिया जा रहा है? गांधी जी ने जिस

खिलौने को हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा कहा है, उस खिलौने से वह अपने मन का खेल आज तक कहाँ खेल पायी है । बस कुछ लोग गिरोह बनाकर आते हैं और उससे वह खिलौना छीनकर भाग जाते हैं । वे प्रजा के खिलौने नहीं, प्रजा उनका खिलौना है। आश्चर्य होता है कि इस खिलौने के लिए कुछ लोगों की जिद को बापू सामूहिक प्रवृत्ति कहकर उसे प्रजा की इच्छा से क्यों जोड़ रहे हैं ? फिर सोचता हूँ कि गांधी जी की प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच सदा उन धागों के सिरे को पकड़ना मुश्किल रहा है जो हमारी जिदों के कारण अक्सर उलझे दिखायी देते हैं और हम बड़ी आसानी से कह देते हैं कि गांधी जी की गलती है । जो रामचरित गांधी जी को प्रिय था उसमें पिता की विफलताओं को कोसा नहीं गया है बल्कि उनके बेटों ने अपने पुरुषार्थ से उन्हें भुलाकर पिता की गरिमा को कभी धूमिल नहीं किया है ।

धर्मपाल को सुनते और पढ़ते हुए यह समझ और गहरी होती जाती है कि -- गांधी जी में कई सौ वर्षों बाद सम्पूर्ण समाज ने अपनी अभिव्यक्ति पायी । गांधी जी की आत्मकथा पढ़ता हूँ तो उनकी प्रामाणिकता पर भरोसा होता है । वे अपनी कमियाँ सबको दिखाते हैं तो शायद इसलिए कि हम सब कम से कम यह स्वीकार करने में कोई संकोच न करें कि सब अपनी प्रकृति के अनुरूप होते हैं और कभी एक जैसे नहीं हो सकते, फिर भी हमें साथ रहना है और रहने की जो जगह हमें मिली है, अपनी सारी कमियों के बावजूद उसे झाड़-बुहारकर ठीक रखना है, उसके बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता । यह जो दुनिया हमें मिली है इसमें जीवन को सहकार से ही सहज-सुन्दर बनाया जा सकता है । जीवन अपने स्वभाव को कभी नहीं बदलता, वह तो उसी का प्रवर्तक है पर अपने स्वभाव को पहचानकर अनुकूल और प्रतिकूल का निर्णय तो किया ही जा सकता है । अगर यह निर्णय नहीं किया जा सकता तो मनुष्य होने का क्या अर्थ रह जाता है । गांधी जी हमें उस निर्भयता की ओर ले गये जहाँ अपने स्वभाव को पहचानकर अपनी देह से मनुष्य होने का प्रमाण दिया जा सकता है। जब दुष्ट अपनी दुष्टता का प्रमाण देने से नहीं चूक रहे तो आदमी अपने इन्सान होने का प्रमाण क्यों न दे । वे अपने जीवन में अपने होने का प्रमाण ही तो देते रहे और यह प्रमाण देने के लिए विधियाँ खोजते रहे जो सबके काम आ सकें ।

गांधी जी ने वह आधार भी सामने रखा जिसके बिना जीने की विधियाँ नहीं खोजी जा सकतीं । उन्होंने याद दिलाया कि संसार जीवन को साध लेने की जगह भर है और उसके साधन सबको मिले हुए हैं, उन साधनों के बीच से सिर्फ अपने पोषण के लिए ही चीजें उठायी जायें जिससे कि वे हमेशा सबके लिए बची रहें । उनकी लूट और व्यर्थ संग्रह की छूट किसी को नहीं है । अगर कोई व्यक्ति और राज्य ऐसा करता है तो समझो कि वह पृथ्वी पर जीवन के अन्त की तैयारी में लगा हुआ है ।

गांधी जी ने उस भारतीय सनातन जीवन दृष्टि को अच्छी तरह पहचान लिया जो जीवन-चर्या को शील, सौन्दर्य और शक्ति की बुनियाद पर प्रतिष्ठित करती आयी है, उसमें अश्लील, कुरूप और दूसरों को शक्तिहीन करने वाला कोई भी कर्म वर्जित है । यह दृष्टि सबको उस वनस्थली की ओर लिए चलने को आतुर है जहाँ साधनों को पूज्यनीय मानकर ही जीवन को सफल बनाया जा सकता है । यह दृष्टि परमज्ञान के उन शिखरों पर भी लिए चलती है जहाँ सारा जीवन बिना किसी भेदभाव के एकात्म भाव में डूबा हुआ-सा ही अनुभव में आता है । यही दृष्टि शिखरों से उतरकर प्रेम के मैदान रचती आयी है जिनमें सब बसाये जा सकते हैं ।

धर्मपाल विकल हैं कि इस दृष्टि के प्रकाश में हमें आज भी अपना पथ खोज सकना चाहिए । वे हमसे कह रहे हैं कि दुनिया में उन्माद, लूट और विध्वंस के बीच भी उन ओझल होते जा रहे पथों की तरफ भी तो मुड़ना चाहिए जो एक शान्त, सरल और सुन्दर दुनिया की ओर हमें ले जा सकते हैं । वे ध्यान दिला रहे हैं कि हम सदियों से बहुत-सी दुनियावी अवधारणाओं के भ्रमजाल में फँसे हुए हैं और हम अपने धर्मग्रंथों के बोझ से भी दबे हुए हैं । हमारे ऊपर उन राजनेताओं और प्रशासकों का भार भी है जिन्हें पाल-पोसकर ब्रिटिश हुकूमत हमारे मत्थे मढ़ गयी है । वे स्वीकार कर रहे हैं कि व्यापक संसार से सम्बंध तोड़ना भी सम्भव दिखायी नहीं देता पर हम उन अवधारणाओं से अभी भी बाहर निकल सकते हैं जो व्यर्थ ही हमें अपने संरक्षण में लिए हुए हैं । वे उम्मीद जगा रहे हैं कि हम अपनी प्रकृति और मानस के अनुरूप अपनी धारणा में वापस लौटकर अपनी सुरक्षा के उपकरण गढ़ते हुए दुनिया के साथ खड़े होने को आतुर हों । यह कोई भोली-भाली दुनिया नहीं, यह चेहरा बिगाड़ती है । अपना चेहरा बिगाड़े बिना इसका सामना तो करना होगा ।